

हाथ धोकर स्वच्छता के पीछे न पड़ें

सुशील जोशी

मेरे एक मित्र ने मुझे बताया कि देवास के राजा के बच्चों को जब खेलने के लिए खिलौने दिए जाते थे तो उबालकर दिए जाते थे। कहने का मतलब कि उन्हें आधुनिक भाषा में निर्जीवीकृत या स्टेरेलाइज़ कर दिया जाता था। मुझे यकीन है कि यह गप है मगर आजकल स्वच्छता का बहुत बोलबाला है। फर्श को पोंछा लगाना है, तो सिर्फ पानी से नहीं, एयर कंडीशनर लगवाना है, तो स्वच्छ हवा वाला, खाने की चीज़ें लेना हैं तो एकदम स्वच्छ होनी चाहिए, बार-बार हाथ धोना है और सिर्फ पानी से नहीं, साबुन से (और आजकल तो साबुन से भी काम नहीं चलता, हैण्ड सेनिटाइज़र चाहिए)। कुल मिलाकर समाज का एक तबका स्वच्छता के पीछे हाथ धोकर पड़ गया है। और स्वच्छता एक बड़ा कारोबार बन गया है।

स्वच्छता के प्रति इस ललक को देखते हुए मुझे याद आई स्वच्छता परिकल्पना (हायजीन हायपोथीसिस) की।

मोटे तौर पर यह परिकल्पना कहती है कि बहुत अधिक स्वच्छता कई रोगों को न्योता है। खास तौर से बहुत अधिक स्वच्छता के कारण एलर्जी (जैसे दमा और एक्ज़ीमा) तथा कई अन्य ऐसे रोगों में वृद्धि होती है जिन्हें चिकित्सा की भाषा में स्व-प्रतिरक्षी रोग कहते हैं। सुनने में यह बात थोड़ी अजीब लग सकती है मगर इस परिकल्पना के पीछे अब काफी ठोस तथ्यों व समझ का आधार है।

सबसे पहले स्वच्छता परिकल्पना लंदन स्कूल ऑफ हायजीन एण्ड ट्रॉपिकल मेडिसिन

के व्याख्याता डेविड स्ट्रेचेन ने 1989 में प्रस्तुत की थी। उन्होंने अपने अध्ययन के दौरान पाया था कि बड़े परिवारों की अपेक्षा छोटे परिवारों में बच्चों को हे फीवर (मौसमी बुखार), एक्ज़ीमा व दमा होने की आशंका ज़्यादा होती है। डॉ. स्ट्रेचेन के मुताबिक मौसमी बुखार 'औद्योगिक क्रांति उपरांत का रोग' है। उन्होंने देखा कि जिन परिवारों में 4-5 बच्चे होते हैं उनमें ये रोग कम होते हैं जबकि एक बच्चे वाले परिवारों में ज़्यादा। और तो और, उन्होंने यह भी देखा कि यदि परिवार में एक से ज़्यादा बच्चे हैं तो छोटे बच्चों में ये बीमारियां कम होती हैं। मतलब सवाल यह नहीं है कितने बच्चे पैदा हुए हैं, बल्कि यह है कि जब कोई बच्चा पैदा हुआ, उस समय परिवार में कितने बच्चे थे।

अपने अवनलोकनों की व्याख्या के लिए उन्होंने स्वच्छता परिकल्पना दी थी। उनका कहना था कि संभवतः "छोटे बच्चों को बचपन में हुए संक्रमणों ने एलर्जी रोगों की रोकथाम

की है। यह संक्रमण उन तक बड़े भाई-बहनों के साथ अस्वच्छ (अन-हायजीनिक) संपर्क के कारण पहुंचा होगा।" तो वे कह रहे थे कि अस्वच्छता के कारण जो संक्रमण होते हैं वे कई एलर्जी जन्य रोगों से सुरक्षा प्रदान करते हैं। यही मूल स्वच्छता परिकल्पना है।

इससे कई बरसों पहले एक अन्य परिकल्पना प्रतिपादित की गई थी जिसे कीटाणु परिकल्पना कहते हैं। इतिहास में झांके तो पता चलता है कि सदियों से लोगों को यह अनुमान था कि शरीर में बाहर से प्रवेश करने वाली कुछ



चीज़ें मनुष्य को बीमार बनाती हैं मगर कीटाणु सिद्धांत के आधुनिक संस्करण का श्रेय मुख्य रूप से जॉन स्नो, फ्रांसेस्को रेडी, रॉबर्ट कोच और जोसेफ लिस्टर के कार्यों को जाता है। अधिकांश रोग कीटाणुओं के कारण होते हैं, यह सिद्धांत 1870 के आसपास प्रचलित हुआ और इसने आधुनिक चिकित्सा पर गहरा प्रभाव डाला। एंटीबायोटिक का बड़े पैमाने पर उपयोग इसी सिद्धांत की देन है। पर्यावरण को कीटाणु मुक्त रखने की बात भी इसी सिद्धांत का नतीजा कही जा सकती है। मगर स्वच्छता परिकल्पना ने हमारा ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया है कि रोग फैलाने के साथ-साथ कई 'कीटाणु' रोगों की रोकथाम में भी सहायक हैं।

समय के साथ स्वच्छता परिकल्पना में नए-नए आयाम जुड़ते गए हैं। इस सफर पर थोड़ी चर्चा हो जाए। सबसे पहली बात तो यह कहना होगा कि परिकल्पना में कहा जा रहा है कि आधुनिक विकास के साथ जब रहन-सहन में परिवर्तन हुए और स्वच्छता बढ़ी तो हमारा संपर्क कई सूक्ष्म व अन्य जीवों से समाप्त या बहुत कम होता गया। यह स्थिति तथाकथित विकसित देशों में ज्यादा देखने में आती है। इसके बाद अगली बात यह कही जा रही है कि उक्त सूक्ष्म व अन्य जीवों से संपर्क हमारे शरीर व शरीर-क्रिया पर कई असर डालता है। इनमें से एक असर हमारी प्रतिरोध क्षमता पर भी होता है। प्रतिरोध क्षमता पर असर होने के परिणामस्वरूप एलर्जी-जन्य रोगों में वृद्धि होती है। एलर्जी का मतलब ही होता है कि हमारा प्रतिरक्षा तंत्र बाहरी पदार्थों के खिलाफ अति-सक्रिय हो जाए। इनके अलावा कई अन्य रोग ऐसे भी होते हैं जिनमें हमारे शरीर का प्रतिरक्षा तंत्र स्वयं हम पर ही हमला कर देता है। एक किस्म का मधुमेह, गठिया वगैरह इसी तरह के रोग हैं। इन्हें आत्म-प्रतिरक्षी रोग कहते हैं। आजकल तो यहां तक कहा जा रहा है कि कोलाइटिस, क्रोहन रोग और ऑटिज़्म भी अति-स्वच्छता के कारण बढ़ते हैं।

मगर इस तरह की परिकल्पनाओं की जांच खासी मुश्किल होती है। जब स्वच्छता के हालात बदलते हैं, तो कई अन्य बातें भी साथ-साथ बदलती हैं। जैसे, खानपान बदलेगा,

जीवन के तौर-तरीके बदलेंगे, शारीरिक मेहनत में फर्क पड़ेगा वगैरह। तो इन सबका मिला-जुला असर सेहत पर होगा। इन सब अलग-अलग कारकों में किसी एक कारक को अलग करके उसका असर परखना आसान नहीं है। इसमें हमारे पास दो ही रास्ते होते हैं। पहला है रोग प्रसार विज्ञान यानी एपिडिमियोलॉजी का रास्ता जिसमें बड़े पैमाने पर तरह-तरह के आंकड़े इकट्ठे करके कार्य-कारण सम्बंध ढूंढने के प्रयास होते हैं। और दूसरा है यह स्थापित करना कि यदि किसी कारक का असर होने की संभावना है तो उस असर की क्रियाविधि क्या है।

स्वच्छता परिकल्पना इन दोनों कसौटियों पर बार-बार खरी उतरी है। जैसे आंकड़े दर्शाते हैं कि कई सारे एलर्जी जन्य रोग सिर्फ 'विकसित' देशों में होते हैं। तथाकथित अल्प या अविकसित देशों में ये रोग अनसुने हैं या इनका प्रकोप नगण्य है। इसी प्रकार से अध्ययनों से पता चला है कि जो लोग अल्प विकसित देशों से औद्योगिक देशों में जाकर बसते हैं उन्हें प्रतिरक्षा तंत्र सम्बंधी दिक्कतें शुरू हो जाती हैं और समय के साथ बढ़ती जाती हैं। कुछ प्रयोगों में यह भी देखा गया है कि यदि बचपन में चूहों का संपर्क वायरसों से करवा दिया जाए तो उनमें डायबीटिज़ की संभावना कम हो जाती है।

पिछले वर्षों में मिले प्रमाणों के आधार पर स्वच्छता परिकल्पना का दायरा बढ़ता गया है। 1989 में स्ट्रेचन ने इसमें मात्र सूक्ष्मजीव संक्रमणों को शामिल किया था। मगर धीरे-धीरे पता चला है कि तमाम किस्म के परजीवी, जिनमें कृमि भी शामिल हैं, हमारे प्रतिरक्षा तंत्र को गढ़ने में भूमिका निभाते हैं और इनकी अनुपस्थिति में प्रतिरक्षा तंत्र का विकास प्रतिकूल प्रभावित होता है। एक और तो इस परिकल्पना के दायरे में नए-नए जीवों से हमारा संपर्क शामिल होता गया है, वहीं दूसरी ओर नई-नई बीमारियां भी इसके दायरे में आती गई हैं। जैसे 2009 में किए गए एक अध्ययन से पता चला था कि कृमियों का संक्रमण भी हमारे प्रतिरक्षा तंत्र को ढालता है। देखा गया है कि कुछ जिनेटिक परिवर्तन भी कृमियों के असर से ही हुए हैं।

इस संदर्भ में कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं। एक

उदाहरण हमारी आंतों में पलने वाले जीवाणुओं का है। ये जीवाणु हमारी पाचन क्रिया में तो मदद करते ही हैं, हमारे प्रतिरक्षा तंत्र को भी प्रशिक्षित करते हैं। इस बात को कई अध्ययनों में देखा गया है। जैसे 2005 में प्रकाशित एक अध्ययन में बताया गया था कि पेट की एक गड़बड़ी इरिटेबल बॉवेल सिंड्रोम से ग्रस्त व्यक्तियों को आठ सप्ताह तक *बाइफिडोबैक्टीरियम इंफैंटिस* नामक जीवाणु की खुराक देने पर उनके लक्षणों में नाटकीय सुधार आया और उनमें प्रतिरक्षा कोशिकाओं का संतुलन भी बेहतर हो गया।

इसी प्रकार, 2010 में प्रकाशित एक अध्ययन में बताया गया था कि *क्लॉस्ट्रिडियम परफ्रिंजेस* बड़ी आंत में प्रतिरक्षा तंत्र को नियंत्रण में रखता है। यह बैक्टीरिया सामान्यतः आंतों का बाशिंदा है। यह भी देखा गया है कि खंडित तंतुयुक्त बैक्टीरिया उन टी कोशिकाओं की वृद्धि को बढ़ावा देते हैं जो रोगकारी तत्त्वों से लड़ने में मददगार होती हैं।

दिवक्त इसी मामले में होती है। टी कोशिकाओं का एक प्रकार होता है टीएच-17 कोशिका। यदि इनका उत्पादन बहुत ज़्यादा मात्रा में होने लगे तो ये स्वयं अपनी ही कोशिकाओं पर हमला बोल देती हैं। इनके इस हमले को रोकने का काम नियामक टी कोशिकाएं करती हैं। ऐसा लगता है कि आंतों में पलने वाले कुछ बैक्टीरिया नियामक टी कोशिकाएं पैदा करने में मददगार होते हैं। अर्थात् बैक्टीरिया की आबादी में एक संतुलन भी ज़रूरी है।

उदाहरण के लिए मिनेसोटा विश्वविद्यालय में एक दिलचस्प मामला आया था। एक महिला को जानलेवा दस्त लगे हुए थे। सारे उपचार आजमाने के बाद डॉक्टर ने तय किया कि उसे किसी स्वरथ व्यक्ति के मल में उपस्थित बैक्टीरिया का मिश्रण दिया जाए। यह मिश्रण उसकी आंत में पहुंचने के 48 घंटे के अंदर उसके दस्त बंद हो गए। दरअसल, बैक्टीरिया व अन्य सूक्ष्मजीवों और हमारे प्रतिरक्षा तंत्र के विकास व कामकाज के बीच सम्बंध को देखते हुए चिकित्सा वैज्ञानिक आजकल इन पर आधारित उपचारों की बातें कर रहे हैं। स्विस इंस्टीट्यूट ऑफ एलर्जी एण्ड अस्थमा रिसर्च के प्रतिरक्षा तंत्र वैज्ञानिक बताते हैं कि नियामक टी कोशिकाओं का असंतुलन सीधे-सीधे एलर्जी रोगों के लिए ज़िम्मेदार

पाया गया है। एक अन्य वैज्ञानिक पौल फोरसाइथ का तो मत है कि यदि हम यह पता लगा सकें कि ये सूक्ष्मजीव प्रतिरक्षा तंत्र के कामकाज को किस विधि से प्रभावित करते हैं, तो हम कई ऐसे रोगों के लिए इनका उपयोग कर पाएंगे जो प्रतिरक्षा तंत्र की गड़बड़ी की वजह से होते हैं।

और बात सिर्फ सूक्ष्मजीवों तक सीमित नहीं है। कृमियों का उपयोग भी चिकित्सा में करने की बातें हो रही हैं। इस संदर्भ में एक अनोखा उदाहरण हाल ही में सामने आया है। एक बच्चा ऑटिज़्म से पीड़ित था। ऑटिज़्म एक रोग है जिसमें बच्चे या तो किसी बात पर ध्यान नहीं लगा पाते या लंबे समय तक किसी एक ही चीज़ में उलझे रहते हैं। कुछ मामलों में बच्चों में खुद को नुकसान पहुंचाने की प्रवृत्ति भी होती है। इस बच्चे को तमाम किस्म की दवाइयां दी गईं मगर वे कुछ ही दिनों के लिए असरकारक रहती थीं। उसके बाद लक्षण फिर लौट आते थे। खास तौर से उसका खुद को नुकसान पहुंचाना उसके पिता के लिए सिरदर्द बन गया था। काफी खोजबीन के बाद उन्होंने पाया कि कुछ प्रयोगशालाओं में इसके लिए एक कृमि *ट्राइचुरिस सुइस* की भूमिका पर काम चल रहा है। उन्होंने एक प्रयोगशाला से संपर्क किया और *ट्राइचुरिस सुइस* के अंडे प्राप्त किए। प्रयोगशाला में कार्यरत डॉक्टरों की सलाह पर उस बच्चे को हर सप्ताह 2500 अंडे देने पर बच्चे के लक्षणों में उल्लेखनीय सुधार आया। कम से कम उसके अतिवादी व्यवहार में तो ज़बरदस्त कमी आई।

यह कोई चमत्कार नहीं था। आयोवा विश्वविद्यालय में इस संदर्भ में हुआ शोध कार्य इसकी पृष्ठभूमि में था। आयोवा के शोधकर्ता जानते थे कि जब लोग कम विकसित देशों से विकसित देशों में पहुंचते हैं, तो उनमें क्रोहन्स रोग का प्रकोप अचानक बढ़ जाता है। इसी प्रकार से यह भी देखा गया था कि 1930-40 के दशक में ग्रामीण अमरीका में पेट की गड़बड़ियां लगभग न के बराबर थीं। इन दोनों के पीछे स्वच्छता परिकल्पना काम कर रही थी। तो आयोवा के शोधकर्ताओं ने अनुमान लगाया कि हो न हो, इसके पीछे कृमि संक्रमण का हाथ है। अपनी बात की जांच के लिए उन्होंने एक आम कृमि को चुना और क्रोहन्स रोग तथा

अल्सर युक्त कोलाइटिस के 7 मरीजों को इस कृमि की खुराक दी। सातों मरीजों की हालत में सुधार आया। बाद में 29 मरीजों पर किए गए एक अध्ययन में 80 प्रतिशत मरीजों की हालत में सुधार देखा गया। यह रिपोर्ट प्रकाशित तो हुई मगर इस पर ज़्यादा ध्यान नहीं दिया गया। मगर उक्त बच्चे के मामले ने इसे एक बार फिर केंद्र में ला दिया।

तो स्वच्छता परिकल्पना कोरी कल्पना नहीं है। धीरे-धीरे इसके पक्ष में काफी प्रमाण एकत्रित होते जा रहे हैं। यह भी काफी हद तक समझा गया है कि हमारे साथी सूक्ष्म व अन्य जीव हमारे प्रतिरक्षा तंत्र के साथ किस तरह अंतर्क्रिया करते हैं। इसके आधार पर चिकित्सा जगत में उपचार विकसित करने की कोशिशें चल रही हैं। मगर जो बात ज़्यादा साफ तौर पर समझ में आती है, वह है कि स्वच्छता,

खास तौर से पर्यावरण को निर्जीवीकृत करने की कोशिश, की अति नुकसानदेह है। मानव का विकास इन सारे जीवों के साथ ही हुआ है, और विकास की इस लंबी प्रक्रिया ने हमें इन पर काफी निर्भर भी बना दिया है।

यह कोई नहीं कह रहा है कि पिछले वर्षों में हमने रोग नियंत्रण के बारे में जो कुछ सीखा है उसे भुला दिया जाए, टीकाकरण और सामान्य साफ-सफाई को तिलांजलि दे दी जाए। इन चीजों की वजह से मानव स्वास्थ्य में बहुत फायदा हुआ है। कहने का मतलब यह है कि अपने पर्यावरण से सामान्य संपर्क को एक समस्या न माना जाए। स्वच्छता परिकल्पना के प्रकाश में, धूल में खेलने की मुमानियत की नहीं बल्कि परिवेश से ऐसे स्वस्थ संपर्क को बढ़ावा देने की ज़रूरत है। *(स्रोत फीचर्स)*